खण्ड – 1 : हिन्दी भाषा का विकास : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इकाई – 2 : मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ : पालि, प्राकृत, अपभ्रंश

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य कथन
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ
    1.2.2.1. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का नामकरण तथा विभाजन
1.2.3. पालि
    1.2.3.1. पालि : नामकरण
    1.2.3.2. पालि की ध्वनियाँ
    1.2.3.3. पालि की प्रमुख विशेषताएँ
1.2.4. प्राकृत
    1.2.4.1. प्राकृत : नामकरण
    1.2.4.2. शिलालेखी प्राकृत
    1.2.4.3. प्राकृत के भेद
        1.2.4.3.1. शौरसेनी प्राकृत
            1.2.4.3.1.1. शौरसेनी प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ
        1.2.4.3.2. महाराष्ट्री प्राकृत
            1.2.4.3.2.1. महाराष्ट्री प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ
        1.2.4.3.3. मागधी प्राकृत
            1.2.4.3.3.1. मागधी प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ
        1.2.4.3.4. अर्द्धमागधी प्राकृत
            1.2.4.3.4.1. अर्द्धमागधी प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ
        1.2.4.3.5. पैशाची प्राकृत
            1.2.4.3.5.1. पैशाची प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ
    1.2.4.4. प्राकृत भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ
1.2.5. अपभ्रंश
    1.2.5.1. अपभ्रंश के भेद
    1.2.5.1. अपभ्रंश की प्रमुख विशेषताएँ
1.2.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.2.0. उद्देश्य कथन

पिछले पाठ में आपने हिन्दी भाषा के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं की विशिष्टताएँ तथा वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की समता-भेदकता आदि को समझा । प्रस्तुत पाठ में आप

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं – पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के विकास का विस्तृत अध्ययन करेंगे। हिन्दी भाषा के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने में इस अध्याय से आपके भाषाई चिन्तन को नया आयाम मिलेगा साथ ही राष्ट्र और भाषा के सामरस्य को समझ सकने में आप सफल हो सकेंगे।

1.2.1. प्रस्तावना

भारत ईरान शाखा के कुछ आर्य भारत आये और उनके कारण भारत में भारतीय आर्यभाषा बोली जाने लगी। विद्वानों का विचार है कि आर्य भारत में कई दलों में आये। भाषा वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर ग्रियर्सन आदि का कहना है कि कम से कम दो बार तो आर्य अवश्य आये। सभी विद्वान् इस बात से सहमत नहीं है। आर्यों के आने के काल के सम्बन्ध में भी विवाद है। अधिकांश लोग यह मानते है कि मोटे रूप से यह माना जा सकता है कि 1500 ई.पू. के लगभग आर्य आ चुके थे। इसका आशय यह हुआ कि भारतीय आर्यभाषा का इतिहास 1500 ई. पू. से 20वीं सदी तक फैला हुआ है। इस साढ़े तीन हजार वर्षों के कालखण्ड को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है –

(i)	प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल	:	1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक
(ii)	मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल	:	500 ई.पू. से 1000 ई. तक
(iii)	आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल	:	1000 ई. से अब तक

1.2.2. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ

भारत में आर्यभाषा के प्रसार का शीर्षकाल मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का समय ही है। पाणिनि ने भाषा का संस्कार करके उसे बाँध दिया और इस प्रकार 'क्लासिकल संस्कृत' या लौकिक संस्कृत का एक रूप निश्चित हो गया, किन्तु लोकभाषा अबाधगति से विकसित हाती रही। इस विकास के फलस्वरूप भाषा का जो स्वरूप सामने आया, उसे 'प्राकृत' कहते हैं। मोटे रूप से इसका काल 500 ई.पू. से 1000 ई.पू. तक अर्थात् डेढ़ हजार वर्ष का माना जाता है। कुछ लोग इसका आरम्भ 600 ई.पू. से भी मानते हैं और अन्त 1100 या 1200 ई. में। भोलानाथ तिवारी इस पूरे काल (500 ई.पू. से 1000ई.पू. तक) की भाषा को प्राकृत कहते हैं, किन्तु इस पूरे काल को प्रथम प्राकृत काल, द्वितीय प्राकृत काल और तृतीय प्राकृत काल के रूप में – तीन कालों में बाँटा जा सकता है। इधर, इसी बात का पृष्ठ पोषण करते हुए डॉ॰ उदयनारायण तिवारी लिखते हैं कि – "व्याकरण के नियमों के जकड़ जाने पर संस्कृत का विकास रुक गया, परन्तु बोलचाल की भाषा निरन्तर विकसित होती जा रही थी, समस्त उत्तरापथ आर्यों के प्रसार के साथ प्राचीन आर्यभाषा के रूप में परिवर्तन-विवर्तन होता जा रहा था तथा भाषा में कालगत एवं स्थानगत भिन्नताएँ बढ़ती जा रही थी और ईसा पूर्व छठीं शताब्दी तक प्राचीन आर्यभाषा विकास के मध्यस्तर तक पहुँच गई।"

1.2.2.1. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का नामकरण तथा विभाजन

डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का नामकरण तथा विभाजन इस प्रकार किया है –

(i) आदिरूप – 700 ई.पू.
(ii) संक्रमणकालीन रूप – 000 ई.
(iii) द्वितीय रूप – 300 ई.
(iv) परवर्ती रूप – 800 ई.

डॉ॰ उदयनारायण तिवारी ने पूरे प्राकृतकाल को निम्नलिखित तीन टुकड़ों में बाँटा है –

(i) प्रथम अवस्था – प्राचीन प्राकृत
(ii) द्वितीय अवस्था – नवीन प्राकृत
(iii) तृतीय अवस्था – अपभ्रंश

डॉ॰ भोलानाथ तिवारी इस काल को निम्नलिखित रूप में बाँटते हैं –

(i) प्रथमकाल (आरम्भ से ईसवी सन् के आरम्भ तक) – पालि और शिलालेखी प्राकृत
(ii) दूसरा काल (ईसवी सन् से लगभग 500 ई.तक) – प्राकृत (इसमें कई प्रकार के प्राकृत हैं)
(iii) तीसरा काल (500 ई. से 1000 ई.तक) – अपभ्रंश

किन्तु, डॉ॰ कैलाशनाथ पाण्डेय के अनुसार उक्त सम्पूर्ण प्राकृत काल का नामकरण तक बँटवारा इस प्रकार है –

(i) आदिकाल (200 ई.पू. 200 ई. तक) – पालि युग
(ii) मध्यकाल (200 ई.पू. 600 ई. तक) – प्राकृत युग तथा
(iii) उत्तरकाल (600 ई. से 1000 ई. तक) – अपभ्रंश युग

समग्रतः मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है –

(i) प्राचीन प्राकृत या पालि : 500 ई.पू. से 1000 ई.पू. तक
(ii) मध्यकालीन प्राकृत : 1000 ई.पू. से 100 ई.पू. तक
(iii) परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश : 500 ई.पू. से 1000 ई.पू. तक

पाणिनी ने भाषा का संस्कार करके उसे बाँध दिया और क्लासिकल संस्कृत या लौकिक संस्कृत का रूप निश्ति हो गया, किन्तु लोकभाषा अबाध गति से विकसित होती रही। इस विकास के फलस्वरूप भाषा का जो स्वरूप सामने आया उसे 'प्राकृत' कहते हैं। मोटे रूप से इसका काल 500 ई.पू. से 1000 ई. तक अर्थात् डेढ़ हजार वर्षों का माना जाता है। 'प्राकृत' के हेमचन्द्र मार्कण्डेय वासुदेव आदि व्याकरणों ने 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भव प्राकृत मुच्यते' आदि रूप में प्राकृत को संस्कृत से निकली माना है, किन्तु ऐसा असम्भव है। मूलतः संस्कृत के काल में जो बोलचाल की भाषा भी, वही विकसित होती रही और उसी का विकसित रूप प्राकृत हुआ।

1.2.3. पालि

मध्यकालीन आर्यभाषा के प्रथम युग की महत्त्वपूर्ण भाषा 'पालि' है। इसे 'देशभाषा' भी कहा गया है। इसका काल कुछ लोग 5वीं या 6वीं सदी ई.पू. से पहली ईसवी तक और कुछ लोग दूसरी सदी ई.पू. तक मानते हैं।

1.2.3.1. पालि : नामकरण

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रस्तुत कियेगए हैं। प्रमुख मत इस प्रकार हैं –

(i) आचार्य बुद्धघोष (चतुर्थ शती ई.) और आचार्य धम्मपाल (6वीं शतीई.) ने 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिये किया है। उससे यह 'पालि' भाषा के लिए आया।

(ii) आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पक्ति' से पालि की उत्पत्ति इस प्रकार बतायी है –
पंक्ति<पंक्ति< पत्ति <पल्लि< पालि।

(iii) भिक्षु सिद्धार्थ ने 'पाठ' से पालि की उत्पत्ति मानी है।
पाठ<पाळ <पाळि <पालि।

(iv) भिक्षु जगदीश कश्यप ने परिमाप (बुद्धोपदेश) शब्द से पालि की उत्पत्ति मानी है।
परिमाम> पलिमाम >पालिमाम >पालि।

(v) डॉ॰ मैक्स वेलेसन (जर्मन विद्वान्) ने पाटलि (पाटलिपुत्र) से पालि की उत्पत्ति मानी है।
पाटलि > पाडलि > पालि।

(vi) पल्लि (गाँव) शब्द से पालि।
पाल्लि > पालि।

(vii) प्राकृत शब्द से पालि।
प्राकृत > पाकट > पाउड > पाअल > पालि।

(viii) अभिधान पादीपिक (पालिभाषा-कोशग्रन्थ) ने 'पा' धातु से 'पालि' शब्द माना है।
पा-पालेति रक्खतीति पालि। अर्थात् जो रक्षा करती है या पालन करती है।

(ix) अमरकोश के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने 'पाल रक्षणे' से पालि शब्द माना है।
पाल् + इ = पालि।

उक्त मतों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ मत केवल बौद्धिक आयाम है। जैसे पंक्ति, पाठ, प्राकृत, पाटलि आदि।

आचार्य बुद्धघोष और आचार्य धम्मपाल के उल्लेखों से सिद्ध है कि बुद्धवचन या बुद्धोपदेश के लिये पालि शब्द चतुर्थ शती ई. में प्रचलित था। 'पाल्लि' शब्द से 'पालि' सरलता से बन सकता है। परन्तु इसका पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है।

भिक्षु जगदीश कश्यप का मत अधिक लोकप्रिय है। परिमाय (सं. पर्याय) का बुद्धोपदेश अर्थ में भत्रु शिलालेख में प्रयोग है – धम्मपलियायाति।

परियाय > पलियाय > पालि शब्द बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिये प्रयुक्त होने लगा।

1.2.3.2. पालि की ध्वनियाँ

स्वर	–	अ आ इ ई उ ऊ ह्रस्व ए ऐ, हस्व ओ औ	
व्यंजन	–	क ख ग घ ङ	कण्ठ्य
		च छ ज झ ञ	तालव्य
		ट ठ ड ठ ण ळ ठह्	मूर्धन्य
		त थ द ध न	दन्त्य
		य फ ब भ म	ओष्ठय
		य र ल व	अन्तस्थ
		स	ऊष्म
		ह	प्राणध्वनि
अनुस्वार	–	(इसे पालि में निग्गहीन कहते हैं)	

1.2.3.3. पालि की प्रमुख विशेषताएँ

पालि की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) पालि में वैदिक संस्कृत की 5 स्वर ध्वनियाँ लुप्त हो गईं – ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ।

(ii) पालि में वैदिक संस्कृत के 5 व्यंजन लुप्त हो गए – श, ष, विसर्ग (:) जिहामूलीय, उपध्मानीय।

(iii) पालि में दो नये स्वर आ गए, ह्रस्व ऍ, ह्रस्व ओ।

(iv) पालि में वैदिक संस्कृत के दो व्यंजन ळ् ळह भी मिलतेहैं।

(v) पालि में संस्कृत के ऐ > ए, औ > ओ हो गए हैं।

(vi) पालि में संयुक्तवर्ण से पूर्ववर्ती दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है, यदि दीर्घ स्वर रहेगा तो संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप हो जाएगा।
जीर्ण > जिण्ण, दीर्घ > दीघ

(vii) अघोष वर्ण घोष हो जाता है क् गं – प्रतिकृत्य > पटिक च्च च् >> ज् - स्रुच् > सत्रुजा। त् द् – वितस्ति > विदति।

(viii) ड, ढ को ळ, न्वह। बडवा > बळवा।

(ix) सन्धियों में केवल तीन सन्धियाँ हैं – i. स्वर सन्धि ii. व्यंजन सन्धि iii. निग्गहीत (अनुस्वार) सन्धि। विसर्ग सन्धि आदि नहीं है।

(x) पालि में हलन्त शब्द नहीं है। केवल अजन्त ही है। हलन्त शब्दों को अकारान्त बना देते हैं या अन्तिम व्यंजन का लोप कर देते हैं।

धनवत् > धनवन्त, अस्मन् > अन्त

(xi) पालि में द्विवचन नहीं होता है।

(xii) पालि में तीनों लिंग हैं।

(xiii) शब्द रूपों में चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान होते हैं।

(xiv) स्त्री प्रत्यय सात हैं – आ, ई, इनी, नी, उनानी, ऊ, ति, अजा, कुमारी, यक्खिनी, दण्डिनी, मातुलानी, वामोए, युवति।

(xv) पालि में 500 से अधिक धातुएँ हैं। 9 गण हैं। अक्षादि और जुहोत्यादि नहीं हैं। क्रियादि के दो भेद हैं – ना, णा वाले।

(xvi) पालि में लोट् लकार वाले भी रूप मिलते हैं – हनासि, दहासि।

(xvii) पालि में णिच्, सन्, यङ्, नामधातु, प्रत्यय वाले रूप मिलते हैं।

(xviii) पालि में वैदिक संस्कृत के तुल्य तुम् अर्थ वाले अनेक प्रत्यय मिलते हैं। जैसे – तुम, तवे, तुये, जि > जिनतुम हा > पहातवे, गण् – गणेतुये।

(xix) आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त हो गया। परस्मैपद शेष रहा।

(xx) टर्नर आदि के अनुसार पालि में दोनों प्रकार का स्वराघात था – संगीतात्मक और बलाघात्मक।

(xxi) पालि में तद्भव शब्दों का आधिक्य है। तत्सम और देशज शब्द कम हैं।

1.2.4. प्राकृत

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का दूसरा युग प्राकृतों का है। मध्यकालीन आर्यभाषा के सभी रूपों को 'प्राकृत' कहते हैं। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के प्रथम युग के शिलालेखों की भाषा को भी प्राकृत कहा गया है।

1.2.4.1. प्राकृत : नामकरण

प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से दी गई है। जैसा कि पिशेल ने लिखा है, कुछ वैयाकरण इसका विश्लेषण 'प्राक्+कृत' अर्थात् 'पहले बनी हुई' करते हैं और इस रूप में इसे संस्कृत से पहले की मानते हैं। नमि साधु सामान्य लोगों में व्याकरण के नियमों आदि से रहित सहज वनन-व्यापार को प्राकृत का आधार मानते हैं –

"सकल जगज्जन्तुनां व्याकरणादिभिरनाहित संस्कार सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव या प्राकृतम्।"

ऐसा अनुमान लगता है कि एक भाषा का संस्कार करके उसके रूप को 'संस्कृत' नाम दिया, तो वह भाषा जो असंस्कृत भी और पण्डितों में प्रचलित भाषा के विपरीत जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों में सहज रूप में बोली जाती थी, स्वभावतः 'प्राकृत' के नाम की अधिकारिणी बन बैठी।

प्राकृत की उत्पत्ति वेद और संस्कृतकालीन जनभाषा का विकसित रूप से है। पालि काल की समाप्ति के बाद लोकभाषा का यही रूप था। प्राकृतों में प्राचीनतम रूप शिलालेखी प्राकृतों का है। जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

1.2.4.2. शिलालेखी प्राकृत

प्राचीन प्राकृत में अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भी आती हैं अतः इसे 'शिलालेखी प्राकृत' कहते हैं। इसको ही अशोकन प्राकृत, लाट प्राकृत भी कहते है। शिलालेखी प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) ध्वनियाँ पालि के समान हैं। पालि में केवल 'स' है। किन्तु शाहबाजगढ़ी और मानसेरा शिलालेखों में श, ष, स तीनों मिलते हैं।
(ii) कुछ शिलालेखों में ण्, ञ् नहीं है। र् को ल् है।
(iii) शिलालेखी प्राकृत में दीर्घाकरण, ह्रस्वीकरण, स्वरभक्ति, वर्णलोप, गुण परिवर्तन, व्यंजन परिवर्तन, सरलीरण आदि मिलते हैं।
(iv) हलन्त शब्द प्रायः अकारान्त हो गए हैं। कुछ प्राचीन हलन्त शद रूप शेष है। मातरि, पितरि, लाजिना, राजो आदि।
(v) क्रियारूप प्रायः पालि के तुल्य हैं। आत्मनेपद नहीं है। कर्मवाच्य, णिच, सन, तुम, त्वा, शतृ आदि प्रत्यय हैं।
(vi) तीन लिंग है। द्विवचन नहीं है।

1.2.4.3. प्राकृत के भेद

इसको 'साहित्यिक प्राकृत' भी कहते है। इस काल में प्राकृत का विकसित साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। प्राकृत भाषाओं के विषय में सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में विचार किया है। उनके मतानुसार 7 मुख्य प्राकृत है और 7 गौण (विभाषा) मुख्य प्राकृत हैं – मागधी, अवन्तिजा, प्रस्त्या, सूरसेनी (शौरसेनी) अर्द्धमागधी, बाहली, दाक्षिगात्य (महाराष्ट्री) गौण 7 प्राकृतों के नाम हैं – शाबरी, आभीरी, चाण्डाली, सवरी, द्राविड़ी, उद्रजा, ववेचरी।

प्राकृत-व्याकरण के सबसे प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने चार प्राकृत मानी हैं – शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची। मागधी के दो रूप हो गए हैं – मागधी और अर्द्धमागधी। इस प्रकार पाँच प्राकृत हैं। मुख्य प्राकृतों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

1.2.4.3.1. शौरसेनी प्राकृत

इसका क्षेत्र शूरसेन (मथुरा के आस-पास) का प्रदेश था। इसका विकास पालिकालीन स्थानीय भाषा से हुआ। यह मध्यप्रदेश की भाषा थी। नाटकों में सर्वाधिक प्रयोग इसी का हुआ है स्त्रियों आदि का वार्तालाप शौरसेनी प्राकृत में ही होता था। केवल पद्य के लिए महाराष्ट्री थी। शौरसनी से ही वर्तमान हिन्दी का विकास हुआ है। राजशेखर-कृत कर्पूरमंजरी का समस्त पद्य भाग शौरसेनी प्राकृत में है। भास, कालिदास आदि के नाटकों में गद्य शौरसेनी में ही है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। यह निम्न एवं मध्यम कोटि के पात्रों तथा स्त्रियों की भाषा थी। इसमें सरलता, सरसता, श्रवण-सुखदता अधिक थी, अतः अधिक लोकप्रिय हुई।

1.2.4.3.1.1. शौरसेनी प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ

शौरसेनी प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) प्रथमा एकवचन में कारक चिह्न ओ। पुत्रः > पुत्तो।

(ii) दो स्वरों के मध्यगत संस्कृत के त को द और थ को ध। पृच्छति > पुच्छति, शत > सद, अथ> अध, कथं > कध।

(iii) मध्यगत क, व को क्रमश गछ होते हैं। नामकः > पाउग्र, अतिथि > अदिधि, कृत > किद, द प्रायः शेष रहता है। जलदः > जलदो।

(iv) मध्यगत महाप्राण ख, ध, थ, ध, फ, भ को ह हो जाता है। मुख > मुह, मेघ > मेह, वधू > वहू, अभिनव >अहिणव।

(v) न को ण हो जाता है। नीन > णाध, भगिनी > वहिणी।

(vi) मध्यगत प को व होता है। दीप > दीव, अपि > अवि।

(vii) क्ष को क्ख, ... को झ, इक्षु, इवषु, ... मञ्झ।

(viii) आत्मनेपद प्राय समाप्त हो गया। परस्मैपद ही है।

(ix) लिट्, लङ, लुङ, विधिलिङ प्रायः समाप्त हो गए।

(x) द्विवचन का अभाव हो गया।

1.2.4.3.2. महाराष्ट्री प्राकृत

महाराष्ट्री प्राकृत का मूल स्थान महाराष्ट्र है। इससे ही मराठी भाषा का विकास हुआ है। प्राकृतों में सबसे अधिक साहित्य महाराष्ट्री में है। संस्कृत नाटकों में प्राकृत में प रचना महाराष्ट्री में ही है। महाराष्ट्री प्राकृत के

प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं – राजा हाल-कृत 'गाहा सतसई' (गाथा-सप्तशती), प्रवरसेन-कृत 'रावण वहो' (सेतुबन्धः), वाक्पति-कृत 'गडवहो' (गौडवधः), जयवल्लम-कृत 'वग्जालग्ग', हेमचन्द्राचार्य-कृत' 'कुमारपालचरित' ये सभी काव्य ग्रन्थ हैं। कर्पूरमंजरी के पद्य महाराष्ट्री में है। भरतमुनि ने दाक्षिणात्य प्राकृत से महाराष्ट्री का ही निर्देश किया है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में महाराष्ट्री को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत माना है। "महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं विदुः" – काव्यादर्श अवन्ती औश्र बाहलीक प्राकृत महाराष्ट्री में ही अन्तर्भूत है।

1.2.4.3.2.1. महाराष्ट्री प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ

महाराष्ट्री प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) स्वर-बाहुल्य मध्यगत व्यंजनों के लोप से स्वरों की प्रधानता अतएव संगीतात्मकता।

(ii) मध्यगत अल्पप्राण (क,ग,च,ज,त,द) का लोप। लोकः > लो ओ, हृदय > हि अ अ, प्राकृत > पाउअ, जानाति > जाणाइ।

(iii) मध्यगत य का सदा लोप होता है। प्रिय > पिअ, वियोग > विओग।

(iv) मध्यगत महाप्राण स्पर्शों (ख, घ, थ, ध,फ, भ) को ह। अन्य > अहं, कथं > कहं, मुख > मुह, लघुक > लहुअ, थ को ह महाराष्ट्री की प्रमुख विशेषता है। शौरसेनी में थ का ध होता है।

(v) ऊष्म वर्णों (श, ष, स) को प्रायः ह हो जाता हैं दश > दहं, धनुष > धगुह, पाषाण > पाहाण दिवसं > दिअहं।

(vi) क्ष का च्छ। कुक्षि > कुच्छि, इक्षु > उच्छु।

(vii) कर्मवाच्य य को इज्ज। पृच्छयते > पुच्छिज्जइ।

(viii) त्वा को ऊण। पृष्ट्वा > पुच्छिऊण।

(ix) तुम को उ और क्त (त) का उन। कर्तुम् > काउं, गृहीत > गहिअ।

(x) अनीय को अणिज्जय। करणीय > करणिज्ज।

1.2.4.3.3. मागधी प्राकृत

यह मगध की भाषा थी। इसका साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार यह अन्तःपुर के नौकर, अश्वपालक आदि की भाषा थी। मार्कण्डेय के अनुसार भिक्षु, क्षपणक, राक्षस चेह आदि मागधी बोलते थे। लंका में पालि को 'मागधी' कहते हैं, क्योंकि पालि मगध से वहाँ गई थी। इसके तीन प्रकार मिलते हैं – शाकारी, चाण्डाली, शाबरी। मागधी से भोजपुरी, मैथिली, बांग्ला, उड़िया, असमिया विकसित हुई हैं।

1.2.4.3.3.1. मागधी प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ

मागधी प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) ष् स को श् । पुत्तरश, भविष्यति > भविशशदि ।

(ii) र को ल । पुरुषः > पुलिशे, राज्ञः > लाआणो ।

(iii) ज को त्त होता है । संस्कृत का य पूर्ववत् रहता है । जानाति > याणादि, जायते > यायदे, यथा > यथा ।

(iv) द्य, र्ज, र्य को य्य होता है । अद्य और आर्य > अय्य, मद्य > मय्य ।

(v) ण्य, न्य, ज्ञ, ञ्ज को ञ्ज होता है ।

(vi) मध्यगत च्छ को श्च होता है । गचछति > गश्चदि ।

(vii) र्थ और स्थ को स्त होतो है अर्थः अस्ते, उपस्थित > अवस्तिद ।

(viii) स्क को स्क, ष्ट को स्ट होता है । शुष्क > शुस्क, कस्ट > कस्ट ।

(ix) प्रथमा एक में विसर्ग को ऐ होता है । देवः > देवे, एषः > एशे ।

1.2.4.3.4. अर्द्धमागधी प्राकृत

अर्द्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के मध्य में है । यह प्राचीन कोसल के समीपवर्ती क्षेत्र की भाषा थी । इसमें मागधी के गुण अधिक हैं । साथ ही शौरसेनी के गुण भी है, अतः इसे अर्द्धमागधी कहा जाता है । इसको ऋषिभाषा या आर्यभाषा भी कहते हैं । भगवान् महावीर के सारे धर्मोपदेश इसी भाषा में है । इसमें प्रचुर मात्रा में जैन-साहित्य मिलता है । अतः इसका विशेष महत्त्व है । इसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार का साहित्य है । आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में इसे चेट, राजपूत्र एवं सेठों की भाषा बताया है । इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष के नाटकों में मिलता है । मुद्राराक्षस और प्रबोधचन्द्रोदय में अर्द्धमागधी का प्रयोग हुआ है । इससे पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है ।

1.2.4.3.4.1. अर्द्धमागधी प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ

अर्द्धमागधी प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) दन्त्य को मूर्धन्य होता है। स्थित > ठिथ ।

(ii) श, ष को स होता है । श्रावक > सावक ।

(iii) य को ज हो जाता है । यौवन > जोव्वण ।

(iv) संयुक्त व्यंजनों में प्रायः स्वर भक्ति के द्वारा विच्छेद होताहै । कृष्ण > कसिन, स्नान > सिनान ।

(v) सन्धि-स्थलों पर म् लग जाता है । अन्योन्यम् > अन्नमन्नम्, अण्णमण्णम् ।

(vi) स्पर्श का लोप हो जाने पर 'य' श्रुति । सागर > सामर ।

(vii) सन्धि-स्थलों पर स्वर भक्ति का प्रयोग होता है । दृचहेन > दुयोहेण, स्वाख्यात > सुयक्खाय ।

(viii) गद्य और पद्य में भेद है । गाय में मागधी के तुल्य 'ए' और पद्य में शौरसेनी के तुल्य 'ओ' है ।

1.2.4.3.5. पैशाची प्राकृत

पैशाची का क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत एवं अफगानिस्तान का क्षेत्र थे। पैशाची को पैशाचिक, भूतभाषा, भूतभाषित आदि भी कहते थे। महाभारत में कश्मीर के पास रहने वाली 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। गुणाढ्य की अतिप्रसिद्ध रचना 'वृहत्कथा' पैशाची प्राकृत में ही थी। इस समय इसका साहित्य नगण्य है। इसका ही विकसित रूप 'लहँदा' भाषा है। हेमचन्द्र-कृत 'कुमारपालचरित' और 'कात्यानुशासन' में तथा 'हम्मीरमदमर्दन' नाटक में इसका प्रयोग मिलता है। राक्षस, पिशाच, निम्न कोटि के पात्र लोहार आदि इसी का प्रयोग करते थे।

1.2.4.3.5.1. पैशाची प्राकृत : प्रमुख विशेषताएँ

पैशाची प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) वर्ग के तृतीय को प्रथम वर्ण होता है। नगर > नकर, तडाग > तटाक।
(ii) वर्ग के चतुर्थ का द्वितीय वर्ण होता है। निर्झर > निच्छर, मेघ > मेखो।
(iii) पैशाची में पंचम वर्ण केवल 'न' है।
(iv) स्ल का विपर्यय। कभी र को ल, कभी ल को र। रूर्द > लुद्, कुमार > कुमाल, रुधिर > लुधिरं।
(v) ज्ञ, न्य ण्य को ञ्च। अन्य > अञ्च, पुण्य > पुञ्च, प्रज्ञा > पञ्चा।
(vi) स्वरभक्ति (मध्य में अ, इ, उ)। कस्ट > कसट, स्नानं > सिनानं, भार्या > भारिया।
(vii) ष का श या स। तिष्ठति > चिश्चदि, विषम > विसमो।
(viii) मध्यगत व्यंजनों का लोप नहीं होता। मधुर > मधुरं।

1.2.4.4. प्राकृत भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ

समेकित रूप में प्राकृत भाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं –

(i) प्राकृत भी संस्कृत के समान क्लिष्ट योगात्मक भाषा है।
(ii) संस्कृत व्याकरण को सरल बनाया गया है।
(iii) शब्द रूपों और धातु रूपों की संख्या कम होगई।
(iv) शब्दों के रूप केवल तीन या चार प्रकार के ही रहे गए।
(v) धातु रूप भी प्रायः एक या दो प्रकार से चलने लगे।
(vi) अस्पष्टता के निवाणार्थ परसर्गों (कारक चिह्नों आदि) की सृष्टि हुई।
(vii) भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक की ओर अग्रसर हुई।
(viii) शब्द रूप प्रायः अकारान्त के तुल्य चलने लगे और धातु रूप प्रायः भ्वादिगुण के समान होगए।
(ix) चतुर्थी विभक्ति का अभाव हो गया। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन प्रायः एक हो गए।
(x) लङ्, लिट और लुङ् लकारों का अभाव हो गया।

(xi) द्विवचन का अभाव हो गया।

(xii) आत्मनेपद का भी अभाव हो गया।

(xiii) ध्वनि परिवर्तन मुख्य रूप से हुआ। संयुक्ताक्षरों में प्रायः पर सवर्ण या पूर्व सवर्णहुआ।

(xiv) कुछ प्राचीन ध्वनियों का अभाव हो गया। स्वरों में ऋ, ॠ, ऌ,ए, औ। व्यंजनों में य श ष। मागधी में य, श है, स नहीं है।

(xv) संस्कृत में अप्राप्त दो नये स्वर आ गए – ह्रस्व ऍ और ओं।

(xvi) साधारणतया शब्द के अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है।

(xvii) ह्रस्व स्वर के बाद दो से अधिक और दीर्घ स्वर के बाद एक से अधिक व्यंजन नहीं रहते।

(xviii) स्वर सम्बन्धी निम्नलिखित मुख्य परिवर्तन हुए – (क) ऋ का अ, इ या उ हो गया। (ख) ऐ को ए, औ को ओ। (ग) मध्यगत व्यंजन का लोप होने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ स्वर। (घ) अनुदान स्वर का लोप। (ङ) सम्प्रसारण होकर य् का इ, त् को उ।

(xix) मध्यगत वर्णों में मुख्य अन्तर ये होते हैं - (क) मध्यगत क त प का लोप या उन्हें ग द् ब होते हैं, (ख) मध्यगत य का सदा लोप होता है, (ग) मध्यगत महाप्राण वर्णों (ख, घ, थ, घ आदि) की 'ह' हो जाता है, (घ) मध्यगत ट को ड और ठ को ढ़ होता है, (ङ) प को व होता है, (च) 11 से 18 की संख्याओं में द को र होता है, (छ) श ष स को स, मागधी में श।

(xx) संयुक्ताक्षरों में मुख्य परिवर्तन ये होतेहैं – (क) दो स्पर्श वर्गों में परसवर्ण होता है, (ख) स्पर्श के बाद अनुनासिक को पूर्वसवर्ण होगा, (ग) ज्ञ को वण, (घ) स्पर्श बाद में होने पर पर ल् को परस वर्ण, (ङ) क्ष को क्ख या च्छ, (च) त्य च्च, ध्य झ, (छ) र् को स्पर्श का सवर्ण।

(xxi) प्रथमा एकवचन विसर्ग (:) मागधी में 'ए' होता है, अन्यत्र 'ओ'।

(xxii) धातुओं के अर्थों में बहुत अन्तर हुआ है।

(xxiii) संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघातात्मक स्वर कम हो गए हैं।

(xxiv) तद्भव शब्दों की संख्या अधिक है, तत्सम कम।

1.2.5. अपभ्रंश

मध्यकालीन आर्यभाषा का अन्तिम रूप 'अपभ्रंश' के रूप में दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश का विकास प्राकृतकालीन बोलचाल की भाषा से हुआ है। इस रूप में उसे प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। विभिन्न ग्रन्थों में अपभ्रंश के अन्य नाम 'ग्रामीण भाषा', देसी, देशभाषा आभीरोक्ति, अपभ्रष्ट, अवहंस (अपभ्रंश शब्द का विकसित रूप) अवहत्थ, अवहट्ठ, अवहठ तथा अवहट्ट (ये चारों अपभ्रंश शब्द के विकसित रूप हैं) आदि मिलते हैं। 'अपभ्रंश' का अर्थ है बिगड़ा भ्रष्ट या गिरा हुआ। भाषा का विकास पण्डितों को सर्वदा ह्रास दिखाई पड़ता है अतः नामकरण के पीछे यह भावना दिखाई देती है। अपभ्रंश का काल 500 ई.से 1000 ई. तक है।

'अपभ्रंश' शब्द के प्राचीनतम प्रयोग व्याडि (पतंजलि से कुछ पूर्व) तथा पतंजलि के महाभाष्य (ई.पू. 150 के लगभग) आदि में मिलते है। किन्तु वहाँ इसका अर्थ भाषा-विशेष न होकर संस्कृत शब्द या तत्सम शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है। भाषा के अर्थ में इस शब्द के प्रयोग सर्वप्रथम छठी सदी में मिलते हैं। इस दृष्टि से भामह के 'काव्यालंकार' और चंड के 'प्राकृत-लक्षणम्' के नाम उल्लेखनीय हैं।

अपभ्रंश भाषा के प्राचीनतम उदाहरण भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र (300 ई.) में मिलते है। इसका आशय यह है कि उसके बीज इससे भी पूर्व फूटने लगे थे। कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' के चौथे अंक में अपभ्रंश के कुछ छन्द मिलते है। इन छन्दों के सम्बन्ध में थोड़ा विवाद भी है। कुछ इसे बाद का प्रक्षिप्त मानते हैं और कुछ कालिदास का लिखा। कालिदास द्वारा लिखित होने का मत अधिक ठीक लगता है। छठी सदी तक आते-आते अपभ्रंश में काव्य-रचना होने लगी थी, तब से लेकर 15वीं 16वीं सदी तक इसमें साहित्य रचना हुई। यद्यपि बोलचाल की भाषा के रूप में इसका प्रचार 1000 ई. के आस-पास समाप्त हो गया। जिनमें उल्लेखनीय ग्रन्थ रइधु का करकण्डचरिउ, धर्मसूरि का जम्बूस्वामी रासा, पुष्पदन्त का आदिपुराण, सरह का दोहाकोश, रामसिंह का पाहुडदोहा, स्वयंभू का पउमचरिउ तथा धनपाल की 'भविसत कहा' आदि हैं।

अधिकांश विद्वान् यह मानते है कि अपभ्रंश की प्रारम्भिक विशेषताएँ सर्वप्रथम पश्चिमोत्तर प्रदेश में विकसित हुई। कीथ आदि कुछ लोगों ने मूलतः अपभ्रंश का सम्बन्ध मध्यप्रदेश की भाषा से मानते हैं। यद्यपि बाद में वे उस पर अपभ्रंश के अन्य रूपों के प्रभाव का भी संकेत करते हैं। डॉ॰ सक्सेना भी मध्यदेशीय या शौरसेनी अपभ्रंश को ही उस काल की परिनिष्ठित भाषा मानते हैं।

1.2.5.1. अपभ्रंश के भेद

मार्कण्डेय (17वीं शती) ने प्राकृत सर्वस्व में अपभ्रंश के तीन भेद माने हैं – नागर, उपनागर और ब्राचड़। नागर, गुजरात की अपभ्रंश, ब्राचड़ सिन्ध की उपनागर दोनों के मध्य की मानी है। स्पष्टतया यह पश्चिमी प्राकृतों का ही विभाजन है। सामान्यतया विद्वानों का मत है कि प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंशों का विकास हुआ। इनसे ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ विकसित हुई। प्राचीन प्राकृत और वर्तमान भारतीय भाषाओं को मिलाने वाली कड़ी वस्तुतः अपभ्रंश भाषाएँहैं।

प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने विभिन्न प्राकृतों से विकसित अपभ्रंश के निम्नलिखित सात भेद स्वीकार किए हैं, जिनसे आधुनिक भारतीय भाषाओं / उपभाषाओं का जन्म हुआ –

(i)	शौरसेनी	:	पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती
(ii)	पैशाची	:	लहँदा, पंजाबी
(iii)	ब्राचड़	:	सिन्धी
(iv)	खस	:	पहाड़ी
(v)	महाराष्ट्री	:	मराठी

(vi) मागधी : बिहारी, बांग्ला, उड़िया व असमिया

(vii) अर्द्धमागधी : पूर्वी हिन्दी

अपभ्रंश के उपर्युक्त सात रूपों से आधुनिक भाषाओं या भाषा वर्गों के तेरह रूपों का विकास हुआ है। कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा का विकास अपभ्रंश के शौरसेनी, मागधी और अर्द्धमागधी रूपों से हुआ है।

1.2.5.1. अपभ्रंश की प्रमुख विशेषताएँ

अपभ्रंश की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(i) अपभ्रंश में लगभग वे ही ध्वनियाँ थी जिनका प्रयोग प्राकृत में होता था। ह्रस्व ए, ह्रस्व ओ और ड़, ढ थे। यद्यपि लिखने में उनके लिए किसी नये चिह्न का प्रयोग नहीं होता था। कभी ए, ओ और कभी इ उ का एँ, ओं के लिये प्रयोग कर दिया जाता था। ऋ का लेखन में प्रयोग था किन्तु स्वरूप में ध्वनि नहीं थी। श, ष के स्थान पर स ही प्रचलित था।'श ध्वनि केवल मागधी अपभ्रंश में थी। वर्तमान भाषाओं को देखने से यह भी अनुमान लगता है कि विभिन्न अपभ्रंश में 'अ' का उच्चारण विवृत,अर्द्धविवृत आदि विभिन्न रूपों में होता है। ळ महाराष्ट्री आदि कई में था।

(ii) स्वरों का अनुनासिक रूप वैदिकी, संस्कृत, पालि, प्राकृत में था। अपभ्रंश में भी वह मिलता है। ऋ को छोड़कर सभी के अनुनासिक रूपों का प्रयोग अपभ्रंश में है।

(iii) संगीतात्मक और नलात्मक स्वराघात की दृष्टि से अपभ्रंश की वही स्थिति थी, जो पालि, प्राकृत में थी।

(iv) अपभ्रंश एक उकार बहुला भाषा थी। 'ललित-विस्तर' तथा 'प्राकृत-धम्मपद' आदि गाथा तथा प्राकृत के ग्रन्थों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु वहाँ यह प्रवृत्ति अपने बीज रूप में है। अपभ्रंश में यह बहुत अधिक है, जहाँ से यह ब्रजभाषा या अवधी आदि को मिली है। (जैसे एक्कु, करणु, पियासु, अंगु, मूलु और जगु आदि।

(v) ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से जो प्रवृत्तियाँ (लोप, आगम, विपर्यय आदि) पालि में शुरू होकर प्राकृत में विकसित हुई थीं, उन्हीं का यहाँ आकर और विकास हो गया।

(vi) शब्द के अन्तिम स्वर के ह्रस्व होने की प्रवृत्ति प्राकृत में भी थी किन्तु अपभ्रंश में ब़ढ़ गई।

(vii) अपभ्रंश में स्वराघात प्रायः आद्यक्षर पर था, इसलिए आद्यक्षर का स्वर यहाँ प्रायः सुरक्षित मिलता है। जैसे- माणिक्य-माणिक्क, घोटक-घोडअ।

(viii) म का वँ (प्राकृत – आमलम, अपभ्रंश – ऑवल अ, कमल > कवँल), व का ब (वचन > ब अ ण), ण्ण का न्ह (कृष्ण > कान्ह), क्ष का क्ख या च्छ (पक्षी > पक्सी > पच्छी), स्म का म्ह (अस्मै > अम्ह), य का ज (युगल > जुगल), ड, द, न र के स्थान पर 'ल' (प्रदीप्त > पलित्त) आदि रूप में ध्वनि विकास की बहुत सी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

(ix) परवर्ती अपभ्रंश में समीकरण के कारण उत्पन्न संयुक्तता में एक व्यंजन बच जाता हैऔर पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो गया (सं. तस्य, प्रा. तस्स, अप., तासु कस्य > कासु)।

(x) पालि, प्राकृत में विकास तो हुआ था किन्तु सब कुछ ले देकर वे संस्कृत की प्रवृत्ति से अलग नहीं थी। अपभ्रंश पूर्णतः अलग हो गई और वह प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर अधिक झुकी है।

(xi) भाषा में धातु और नाम दोनों रूप कम हो गए। इस प्रकार भाषा अधिक सरल हो गई।

(xii) वैदिकी, संस्कृत, पालि तथा प्राकृत संयोगात्मक भाषाएँ थीं। प्राकृत में वियोगात्मकता या अयोगात्मकता के लक्षण दिखाई देने लगे थे किन्तु अपभ्रंश में आकर ये लक्षण प्रमुख होगए।

(xiii) संज्ञा-सर्वनाम से कारक के रूप के लिये संयोगात्मक भाषाओं में केवल विभक्तियाँ लगती हैं, जो जुड़ी होती हैं। किन्तु वियोगात्मक भाषाओं में अलग से शब्द लगाने पड़ते हैं, जो अलग रहते हैं। हिन्दी में 'ने, को, में, से' आदि ऐसे ही अलग शब्द है। प्राकृत में इस तरह के दो तीन शब्द मिलते हैं, किन्तु अपभ्रंश में बहुत से कारकों के लिये अलग शब्द मिलते हैं जैसे – करण के लिये सहुँ तण, सम्प्रदान के लिए केहि, रेसि अपादान के लिये थिड, होन्त, सम्बन्ध के लिये केर, कर, का और अधिकरण के लिये मह, मज्झ आदि।

(xiv) संयोगात्मक भाषाओं में तिङ प्रत्यय के योग से काल और भाव की रचना होती है। वियोगात्मक भाषाओं में सहायक क्रिया के सहारे कृदन्तीय रूपों से ये बातें प्रकट की जाती हैं। इस प्रकार की वियोगात्मक प्रवृत्तियाँ प्राकृत में अपनी झलक दिखाने लगी थीं, किन्तु अब ये बातें बहुत स्पष्ट हो गयीं। संयुक्त क्रिया का प्रयोग होने लगा। तिङन्त रूप कम रह गए।

(xv) नपुंसकलिंग समाप्त प्रायः था।

(xvi) अकारान्त पुल्लिंग प्रतिवादिकों की प्रमुखता हो गई। अन्य प्रकार के थोड़े बहुत प्रतिपादिक थे भी तो उन पर इसी के नियम प्रायः लागू होते थे। इस प्रकार इस क्षेत्र में एकरूपता आ गई।

(xvii) कारकों में रूप बहुत कम हो गए अपभ्रंश में लगभग छह रूप रह गए, दो वचनों और तीन कारकों – i. कर्त्ता, कर्म, सम्बोधन, ii. करण, अधिकरण, iii. सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध के।

(xviii) स्वार्थिक प्रत्यय – 'ड' का प्रयोग अधिक होने लगा, राजस्थानी आदि में यही ड़ड़ी, ड़िया आदि रूपों में मिलता है।

(xix) उपर्युक्त कारणों के परिणामस्वरूप वाक्य के शब्दों के स्थान निश्चित हो गए।

(xx) अपभ्रंश के शब्द-भण्डार की प्रमुख विशेषताएँ हैं–

(क) तद्भव शब्दों का अनुपात अपभ्रंश में सर्वाधिक है।

(ख) दूसरा नम्बर देशज शब्दों का है, क्रिया शब्दों में भी ये शब्द पर्याप्त हैं। ध्वनि और दृष्टि के आधार पर बने नये शब्द भी अपभ्रंश में बहुत हैं।

(ग) तत्सम शब्द अपभ्रंश के पूर्वार्द्ध काल में बहुत कम हैं किन्तु उत्तरार्द्ध में उनकी संख्या बढ़ गईहै।

(घ) इस समय तक भारत का पर्याप्त विदेशी सम्पर्क हो गया था, इसी कारण उत्तरकालीन अपभ्रंश में कुछ विदेशी शब्द भी आ गए हैं। जैसे- ठट्ठा, ठक्कुर, नीक, तुर्क, तहसील, नौबती आदि।

1.2.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. भाषाविज्ञान, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल प्रकाशन, संस्करण 2013
2. भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त और हिन्दी-भाषा, डॉ॰ द्वारिका प्रसाद सक्सेना, डॉ॰ उदयप्रतापसिंह, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, संस्करण 2011
3. भाषाविज्ञान की भूमिका, देवेन्द्रनाथ शर्मा, दीप्ति शर्मा, 2001

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖